# हिन्दु और जैन व्रत :
# एक क्रियाप्रतिक्रियात्मक लेखाजोखा

**डॉ. अनीता बोथरा**

**शीर्षक का स्पष्टीकरण :**

वेद से प्रारम्भित होकर पुराण तथा विविध भक्तिसम्प्रदायों में विचार की जो धारा बहती चली आयी है उसे हम वैदिक, वेदोत्तरकालीन, ब्राह्मण या हिन्दु परम्परा कह सकते हैं । व्रतों के सन्दर्भ में पौराणिक काल में जो विचार अन्तर्भूत हुए है उनको इस शोधनिबन्ध में केन्द्रीभूत स्थान देकर हमने 'हिन्दु परम्परा' शब्द का उपयोग शीर्षक में किया है । यद्यपि हिन्दु तथा हिन्दुत्व इन दोनों शब्दों के बारे में अभ्यासकों में बहुत मतभेद है तथापि वेद से आरम्भ होकर उत्तरकालीन महाकाव्य, दर्शन तथा पुराण में जो विचारप्रवाह बहता चला आया है उसे हम एक दृष्टि से हिन्दु कह सकते हैं ।

**शोधनिबन्ध का प्रयोजन :**

ब्राह्मण परम्परा से समान्तर बहती चली आयी दूसरी भारतीय विचारधारा श्रमण परम्परा के नाम से जानी जाती है । जैन और बौद्ध परम्परा में यह श्रामणिक विचारधारा साहित्य रूप में प्रवाहित हुई है । जैन विचारधारा श्रमण परम्परा में प्राचीनतम है । जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित व्रतों का स्वरूप अपना एक अलग स्थान रखता है । हिन्दु और जैन दोनों धारा इसी भारतभूमि में उद्भूत तथा प्रवाहित होने के कारण उनमें हमेशा आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ निरन्तर चलती आयी हैं । व्रत-विचार के बारे में इन दोनों में जो क्रियाप्रतिक्रियाएँ हुई उनका तर्कसंगत लेखाजोखा इस शोधनिबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

हिन्दु अथवा ब्राह्मण परम्परा में प्रारम्भ के बहुतांश व्रत-विधान, विविध यज्ञीय क्रियाओं से सम्बन्धित थे । परिस्थितिजन्य कारणों से वे व्रत-विधान उपवास, पूजा तथा विविध ऐहिक, पारलौकिक व्रतों में परिणत हुए।

नेशनल संस्कृत कॉन्फरन्स, नागपुर, १,२,३ मार्च २००९ में प्रस्तुत शोधपत्र

जैन परम्परा में भी आगमिक काल में, व्रतविधान, साधु द्वारा आचरित पंचमहाव्रत तथा श्रावक द्वारा स्वीकृत बारह व्रतों तथा तपों के स्वरूप में विद्यमान थे । इन महाव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा तपों को सुरक्षित रखते हुए अनेकानेक उपवास, पूजा, तप आदि रूप में जैनियों में व्रताचरण की प्रवृत्ति हुई । हिन्दु तथा जैन दोनों परम्पराओं के अन्तर्गत परिवर्तनों का लेखाजोखा भी इस शोधनिबन्ध में सारांश रूप से प्रस्तुत किया है ।

## *वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन व्रत*

### ( १ ) 'व्रत'शब्द की व्युत्पत्ति :

व्रतशब्द के व्युत्पत्त्यर्थ में विद्वानों में बहुत सारे मतभेद दिखाई देते हैं ।

डॉ. पा.वा.काणेजी ने व्रतशब्द 'वृ' तथा 'वृत्' इन दोनों धातुओं से व्युत्पन्न किया है । विविध मत देकर यह स्पष्ट किया है कि 'वृ-वरण करना' इस धातु को 'त' प्रत्यय लगाकर 'संकल्पित कृत्य', 'संकल्प' तथा 'इच्छा' इन अर्थों से 'व्रत'शब्द निकटता से जुडा हुआ है ।

### ( २ ) 'व्रत'शब्द का अर्थ :

ऋग्वेद में 'ऋत', 'व्रत' और 'धर्मन्' ये शब्द बार-बार दिखाई देते हैं । उनके अर्थों में भी अनेक बार निकटता दिखाई देती है । 'ऋत' का सामान्य अर्थ है - देवों के द्वारा आरोपित निर्बन्ध अथवा नियम । 'धर्मन्' का अर्थ है - धार्मिक विधि अथवा यज्ञ । डॉ. काणेजी कहते हैं कि क्रमक्रमसे 'ऋत'-संकल्पना प्रचलन से चली गयी । उसकी जगह 'सत्य'शब्द का प्रयोग होने लगा । 'धर्म'शब्द सर्वसंग्राहक बना और 'व्रत'शब्द 'धार्मिक एवं पवित्र प्रतिज्ञा' तथा 'मनुष्य द्वारा आचरित निर्बन्धात्मक व्यवहार', इस सन्दर्भ में अर्थपूर्ण बना ।[१]

### ( ३ ) 'व्रत'शब्द के समास तथा 'व्रत' के विविध अर्थ :

डेक्कन कॉलेज के संस्कृत-महाशब्द-कोश के स्क्रिप्टोरियम में अन्तर्भूत सन्दर्भों के कार्डस् पर नजर डालने पर यह पता चलता है कि ऋग्वेद में 'सत्यव्रत', 'प्रियव्रत', 'दृढव्रत' इ. समास हैं लेकिन 'अणुव्रत' समास नहीं है ।

'महाव्रत' शब्द यद्यपि अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, महाभारत और पुराणों में है, तथापि सत्य, अहिंसा आदि जैन महाव्रतों के पारिभाषिक अर्थ में न होकर केवल great vow, great penance अथवा great ceremony आदि अर्थ में आया है ।[२]

ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों में व्रतशब्द का अर्थ है – 'धार्मिक विधि', 'धर्मसम्बन्धी प्रतिज्ञा' अथवा 'अन्न-पान ग्रहण के नियम' । 'श्रौत', 'गृह्य' तथा 'धर्मसूत्र' में 'व्यक्ति का विशिष्ट वर्तनक्रम अथवा उपवास' इन दोनों अर्थ में व्रत शब्द पाया जाता है ।[३]

'मनु' तथा 'याज्ञवल्कीय स्मृति' में 'प्रायश्चित्तों' को व्रत कहा है क्योंकि प्रायश्चित्तों में अनेकविध नियमों का पालन निश्चयपूर्वक किया जाता है ।[४]

'महाभारत' से ज्ञात होता है कि वहाँ व्रत, 'एक अंगीकृत धर्मकृत्य' अथवा 'अन्न तथा आचरण सम्बन्धी प्रतिज्ञा' है ।[५]

'पातंजलयोग' में अहिंसा, सत्य इ. व्रतों को प्रमुखता से 'यम' कहा है । उनके सार्वभौम और सम्पूर्ण आचरण के लिए 'महाव्रतम्' संज्ञा है ।[६] जैन परम्परा में भी अहिंसा, सत्य आदि पाचों को 'महाव्रत' कहा जाता है, तथापि एकवचनी निर्देश न होकर प्रत्येक को स्वतन्त्र रूप से महाव्रत कहा गया है ।[७] पातंजलयोगसूत्र में जैन परम्परा के प्रभाव के कारण महाव्रत संज्ञा अन्तर्भूत करने की आशंका हम रख सकते हैं । क्योंकि पातंजलयोग से प्रभावित उत्तरकालीन ग्रन्थों में यम-नियम-आसन आदि शब्दावली रूढ हुई है । 'महाव्रत' शब्द का प्रयोग क्वचित् ही पाया जाता है ।

ब्राह्मण परम्परा में ईस्वी की २-३री शताब्दी से लेकर १०वी शताब्दी तक 'पुराण' ग्रन्थों की संख्या वृद्धिंगत होती चली । व्रतों की संख्या भी बढती गयी । प्राय: सभी पुराणों में विविध प्रकार के व्रत विपुल मात्रा में पाये जाते हैं । उसके अनन्तर व्रतकथा और कोशों की निर्मिति हुई (इ.स. की १५ से १९वी शताब्दी तक) । सब पुराणों में मिलकर लगभग २५,००० श्लोक व्रतसम्बन्धी है । व्रतों की संख्या लगभग १,००० है ।[८]

ऋग्वेदकाल में धार्मिक अथवा पवित्र प्रतिज्ञा एवं आचरणसम्बन्धी निर्बन्ध इस अर्थ में व्रत शब्द का प्रयोग होता था । धीरे धीरे उसमें परिवर्तन

होते गये । पूजा, व्रत-विधान, उपवास, दान तथा महिना-वार-तिथि-पर्व आदि मुद्दों का समावेश होते हुए व्रतों की संख्या बढती गयी और स्वरूप में भी परिवर्तन आये । इसकी कारणमीमांसा निम्नलिखित प्रकार से दी जा सकती है ।

**( ४ ) हिन्दु परम्परा में 'व्रतपरिवर्तन' तथा 'व्रतवृद्धि' की कारणमीमांसा :**

- वेद और ब्राह्मण काल में प्रचलित यज्ञ धीरे-धीरे आडम्बरयुक्त, पुरोहितप्रधान, खर्चीले और व्यामिश्र बनते चले गये । सर्वसामान्य व्यक्ति के लिए यज्ञविधि रचाना नामुमकीनसा होता चला गया । आरम्भ में प्रायः सभी व्रत यज्ञविधि से सम्बन्धित ही थे । यद्यपि यज्ञ का प्रचलन कम होने लगा तथापि उससे सम्बन्धित व्रत परिवर्तित स्वरूप में रूढ होते चले ।[९]
- जैन और बौद्धों ने यज्ञ संस्था का जमकर विरोध किया । खासकर पशुहिंसात्मक यज्ञों की स्पष्ट और कठोर शब्दों में निन्दा की ।[१०] परिणामस्वरूप यज्ञों की जगह धीरे-धीरे प्रासंगिक व्रतों ने ली होगी ।
- केवल जैन और बौद्धों ने ही नहीं तो वैदिक या ब्राह्मण परम्परा के कुछ विचारवन्तों ने भी यज्ञ में निहित हिंसा को गर्हणीय मानी थी और अहिंसा तथा भक्तिप्रधान धर्माचरण के प्रति आस्था रखी थी । महाभारत तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार ब्राह्मण परम्परा में रहकर नारद ने पशुहिंसा का जो विरोध किया और नामसंकीर्तन का महिमा बताया, इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दु परम्परा के ही अन्तर्गत होनेवाले विरोधात्मक विचारप्रवाह से विविध व्रत-विधान, पूजा आदि का प्रचलन हुआ होगा ।[११] नारद की अहिंसाप्रधान दृष्टि का गौरव इसी वजह से जैन परम्परा ने उसको ऋषिभाषित में स्थान देकर किया होगा ।[१२]
- यज्ञप्रधान धर्म में स्त्रियाँ और शूद्रों को किसी भी प्रकार के धार्मिक विधि के अधिकार नहीं थे ।[१३] समाज का इतना बडा हिस्सा धर्म से वंचित नहीं रह सकता था । व्रतों की विशेषता यही है कि व्रत

के अधिकारी चारों जातियों के गृहस्थ या गृहिणी हो सकते थे ।[१४] व्रतों के विस्तृत वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि वहाँ जाति, लिंग आदि के निर्बन्ध बहुत कम है । हिन्दुधर्म के अन्तर्गत ही जाति-लिंग-निरपेक्ष धर्माचरण की आवश्यकता उत्पन्न हुई । जैन और बौद्धों ने जातिव्यवस्था पर भी कठोर आघात किये ।[१५] परिणामवश व्रतों के विवेचन में कहीं भी 'अमुक जाति द्वारा किये गये व्रत', इस तरह के उल्लेख नहीं पाये जाते । व्रत कराने के लिए ब्राह्मण पुरोहित की आवश्यकता के संकेत बहुत ही कम मिलते हैं ।

- जैनधर्म में श्रावक और श्राविकाओं के लिए बारह व्रतों के रूप में एक सुघट श्रावकाचार का प्रावधान था ।[१६] बौद्धों ने भी पंचशील के रूप में उपासकाचार बताया था ।[१७] हिन्दु धर्मशास्त्रियोंने परिवर्तित व्रतों के रूप में सभी जातियों के गृहस्थ तथा विशेषतः गृहिणियों के लिए आचार बनाया ।[१८]
- आम समाज में प्रचलित धार्मिक तथा देवतालक्षी विधियों का वर्णन यद्यपि ग्रान्थिक कर्मकाण्डात्मक स्वरूप में स्मृतियों में अंकित नहीं किया गया है, तथापि 'लोकवेद' संज्ञा से सम्बोधित अथर्ववेद में आम समाज में प्रचलित रूढी, परम्परा, कुलाचार, प्रघात, अन्धविश्वास, मन्नत आदि के रूप में इसका दिग्दर्शन होता है । पुराणों में अंकित व्रतों पर इस लोकप्रचलित रूढी, विधि आदि का भी जरूर प्रभाव रहा होगा ।

## *आगम तथा आगमोत्तरकालीन व्रत*

### (१) जैन परिप्रेक्ष्य में 'व्रत' का अर्थ :

'वृ' क्रियापद के जो विविध अर्थ संस्कृतकोश में दिये हैं, उसमें से 'मर्यादा करना', 'नियन्त्रण करना' तथा 'रोकना' यह अर्थ आगमकाल की व्रतसंकल्पना से सर्वाधिक मिलता जुलता है । इसका अर्थ यह हुआ कि जैन और हिन्दु दोनों का व्रतों का व्युत्पत्त्यर्थ ही अलग अलग है । हिन्दुव्रत में 'संकल्प', 'इच्छा', 'प्रतिज्ञा' आदि को प्राधान्य है[१९] तो जैनव्रतों में 'विरति'

'विरमण', 'संयम', 'मर्यादा' आदि को प्राधान्य है। हिन्दु धर्म के प्रवृत्तिपरकतापर तथा जैन धर्म के निवृत्तिपरकतापर इस व्युत्पत्त्यर्थ के द्वारा ही यथार्थ प्रकाश पडता है। 'उंछ', 'पिण्ड' आदि अनेक शब्द जैन परम्परा ने ब्राह्मण परम्परा से लेकर अपने ढांचे में डाले हैं। तथापि व्रत शब्द की बात अलग है। जैन परम्परा में व्रत शब्द का अपना एक अलग खास अर्थ था। 'हिंसा, अनृत, अस्तेय आदि से विरमण तथा विरति' जैनियों ने व्रतस्वरूप मानी।[२१] पूर्णरूप से विरति को 'महाव्रत' कहा तथा आंशिक विरति को 'अणुव्रत' कहा।[२२] जैन आचार पद्धति में महाव्रतों पर आधारित साधुआचार तथा बारह आंशिक व्रतों पर आधारित श्रावकाचार की परम्परा प्राचीन काल से लेकर आजतक बहती चली आयी।[२३] ये व्रत प्रासंगिक नहीं थे। एक बार ग्रहण किये तो आजन्म परिपालन की जिम्मेदारी थी। जैन परिप्रेक्ष्य में जिसे हिंसाविरति, अनृतविरति इ. कहा है, इस प्रकार के व्रतों का आचरण करनेवाले यतियों का उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है।[२४] 'व्रात्यस्तोम' शब्द से यही सूचित होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित ये व्रात्य, श्रमण परम्परा के ही रहे होंगे। क्योंकि विरतिरूप व्रत धारण करने की संकल्पना वैदिक परम्परा के आरम्भ काल में प्रचलित ही नहीं थी। इससे स्पष्ट होता है कि जैनियों की व्रत संकल्पना ब्राह्मण परम्परा से अलग ही थी।

### ( २ ) व्रतविषयक साहित्य की प्रथमावस्था :

आगमों में 'व्रत' शब्द साधु तथा श्रावक के आजन्म, नित्य आचार के लिए उपयोजित है। यद्यपि साधु तथा श्रावक के व्रतों का वर्णन पाया जाता है तथापि इन व्रतों के आरोपण की विधि, कर्मकाण्ड या आडम्बर का निर्देश आगमों में नहीं है। साधु और श्रावक, व्रत के आधार पर दोनों को यथाशक्ति आध्यात्मिक प्रगति करना अपेक्षित है। इस प्रगति का प्रमुख साधन है 'तप'। तप का प्रयोजन है कर्मों की निर्जरा।[२५] किसी भी ऐहिक फलप्राप्ति की आकांक्षा से तप करने को 'निदानतप' कहके निम्नदर्जा पर रखा गया है।[२६] यह 'व्रत' तथा 'तप' संकल्पना की प्रथमावस्था ख्रिस्ताब्द पाँचवी शताब्दी तक के ग्रन्थों में पायी जाती है।[२७] इस प्रथमावस्था में आगमकाल में यद्यपि समाज में विविध प्रकार के मख, उत्सव, मन्नत, रूढी, देवतापूजन आदि प्रचलन में थे[२८] तथापि

जैनियों के लिए उनके व्रतस्वरूप आचरण का कोई प्रावधान नहीं बना था ।

**( ३ ) व्रतविषयक साहित्य की द्वितीयावस्था :**

आगमकाल में विविध प्रकार के तपों का निर्देश है । उत्तरकाल में तपों का विस्तार से वर्णन करते करते धीरे धीरे तप के साथ विविध प्रकार की विधियाँ जुड गयी । तपोविधि के साथ फल भी अल्पांश मात्रा में निर्दिष्ट होने लगे । यह द्वितीयावस्था ख्रिस्ताब्द छट्ठी शती से दसवीं सदी तक के ग्रन्थों में पायी जाती है ।

जटासिंहनन्दिकृत 'वरांगचरित' यह संस्कृत ग्रन्थ, डॉ. ए.एन्.उपाध्ये के अनुसार सातवी शताब्दी का है । आगमोक्त तपों को उन्होंने 'सत्तप' कहा है ।[२९] उनको 'व्रत' संज्ञा नहीं दी है । व्रत शब्द के अनेक समास ग्रन्थ में दिखायी देते हैं लेकिन वे सब प्रायः साधुव्रत तथा श्रावकव्रत के सन्दर्भ में हैं ।[३०] फलनिष्पत्ति के कथन की प्रवृत्ति दिखायी देती है ।[३१] जिनप्रतिमा, जिनपूजा, प्रतिष्ठा आदि का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है ।[३२] किसी भी नये सुलभ व्रतों का निर्माण उन्होंने नहीं किया है ।

हरिवंशपुराण (८वी शताब्दी)[३३] तथा आदिपुराण (९वी शताब्दी)[३४] में आगमोक्त तपों का संक्षिप्त वर्णन है । कुछ तपों को 'विधि' कहा है । स्वर्ग तथा मोक्ष इन दोनों फलों का जिक्र किया है । उपवास की प्रधानता है । उद्यापन नहीं है ।

दसवी शताब्दी में तो तपोविधि के लिए व्रत शब्द का आम उपयोग होने लगा ।[३५] यह तथ्य गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक से उजागर होता है ।

व्रतात्प्रत्ययमायाति निर्व्रतः शङ्क्यते जनैः ।
व्रती सफलवृक्षो वा निर्व्रतो वन्ध्यवृक्षवत् ॥[३६]

इस प्रकार वरांगचरित से लेकर उत्तरपुराण तक के ग्रन्थों में व्रतसाहित्य की द्वितीयावस्था दिखायी देती है ।

**( ४ ) व्रतविषयक साहित्य की तृतीयावस्था :**

व्रतविषयक साहित्य की तृतीयावस्था लगभग ११वी शती से आरम्भ

होती है । इस काल में तपोविधि के साथ-साथ अन्य नये व्रतों की शुरूआत हुई । इन नये व्रतों को 'तप' के बदले 'व्रत' कहने का प्रारम्भ हुआ ।

११वी शताब्दी में महेश्वरसूरिने 'ज्ञानपंचमीकथा' में 'पंचमीवय' (पञ्चमीव्रत) शब्द का प्रयोग किया ।[३७] इस एक व्रत के माहात्म्य के लिए दस कथाएँ लिखी । इसमें व्रत का संकल्प, विधि, उद्यापन तथा ऐहिक-पारलौकिक फल का स्पष्टतः निर्देश है ।[३८] आश्चर्य की बात यह है कि ज्ञानपंचमी व्रत के फल आदि का कथन मुनियों के मुख से करवाया है ।[३९] 'ज्ञानपंचमीकथा' जिस प्रकार एक व्रत पर आधारित है उसी प्रकार 'सुगन्धदशमीकथा' भी एक व्रत का माहात्म्य बताने के लिए रची गयी है ।[४०]

१२वी शताब्दी के जैन शौरसेनी ग्रंथ 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' में रोहिणी, अश्विनी, सौख्यसम्पत्ति, नन्दीश्वरपंक्ति और विमानपंक्ति इन व्रतों का निर्देश है। लेकिन खुद ग्रन्थकार ने इनको व्रत भी नहीं कहा है और तप भी । भाषान्तरकार तथा सम्पादक ने इनको स्पष्टतः 'व्रत' कहा है। इस ग्रन्थ में स्वर्ग तथा मोक्षप्राप्ति रूप फल बताये हैं ।[४१] जैन परम्परा में बिलकुल ही मेल न खानेवाली एक बात इस ग्रन्थ में कही है । जैसे कि-

उज्जवणविही ण तरइ काउं जइ को वि अत्थपरिहीणो ।
तो विउणा कायव्वा उववासविही पयत्तेण ॥[४२]

तप और उपवास को दुय्यम स्थान पर रखते हुए दान तथा उद्यापन को इसमें अधोरेखित किया है ।

१४वी शताब्दी के जिनप्रभकृत 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ का स्थान जैन विधि-विधानों के इतिहास में विशेष लक्षणीय है। इस संकलनात्मक ग्रन्थ में उन्होंने महाव्रत, अणुव्रत, तप तथा नये व्रत इन सबकी विधि विस्तारपूर्वक दी है । सम्यक्त्व से आरम्भ करके श्रावकव्रत, साधुव्रत तथा समग्र श्रावक तथा साधुआचार को परिलक्षित करके इन्होंने व्रतारोपण की विधियाँ बनायी ।[४३] विधिमार्गप्रपा में व्रतों के संकल्प तथा फल का निर्देश नहीं है तथापि उद्यापन का सुविस्तृत वर्णन है । ग्रन्थ में 'व्रत' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, सभी को 'विधि' ही कहा है ।[४४] इनके व्रत वर्णन से लगता है कि ब्राह्मण परम्परा के पौराणिक व्रतों का जैन परम्परा के व्रतों पर प्रभाव पडने लगा है ।

सर्वांगसुन्दर, निरुजसिंह, कोकिलाव्रत आदि व्रतों के नामसाम्य से यह दृग्गोचर होता है ।[४५] जिनप्रभसूरिद्वारा उपयोजित 'नैवेद्य' शब्द पर भी ब्राह्मण परम्परा की मुहर स्पष्टतः दिखायी देती है ।[४६] जैन परम्परा तथा सिद्धान्तो से निगडित नये व्रतों का निर्माण भी इन्होंने किया है । उदाहरण के तौरपर कल्याणतप, इन्द्रियजय, कषायमथन, अष्टकर्मसूदन, समवसरण आदि व्रतों का निर्देश कर सकते हैं ।[४७] आगमोक्त तपों की दुष्करता की तथा नये सुलभ व्रतों के निर्माण की जो बात जिनप्रभसूरि ने उठायी है वह जैन व्रतों के परिवर्तन की एक नयी दिशा सूचित करती है –

जे पुण एगावली–कणगावली–रयणावली–मुत्तावली–गुणरयणसंवच्छर–खुड्डुमहल्ल–सिंहनिक्कीलियाइणो तवभेया ते संपयं दुक्कर त्ति न दंसिया ।[४८]

जिनप्रभसूरि मुगलसम्राट महम्मद तगलक के समकालीन थे । बादशाह पर उनका अच्छा खास प्रभाव था । इस राजाश्रय के आधारपर उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ कई दशकों तक जारी रही । मन्दिरनिर्माण और मूर्तिप्रतिष्ठापना इनके काल में बहुतायत मात्रा में हुई थी ।[४९] इन सबसे यह लगता है कि जिन–प्रभसूरिका जैन समाज पर बडा गहरा प्रभाव होगा । परिणामस्वरूप इनके व्रतविधान खाली किताबी न रहकर प्रचलन में भी आये होंगे ।

## (५) व्रतविषयक साहित्य की चतुर्थावस्था :

१५वी शताब्दी में जैन व्रतों ने एक नया मोड लिया । १५वी सदी का ब्रह्मसाधारणकृत 'वयकहा' यह अपभ्रंश भाषा में लिखित व्रतकथाओं का संग्रह, व्रतविषयक साहित्य की चतुर्थावस्था का द्योतक है । व्रतकथा में मुकुटसप्तमी, क्षीरद्वादशी, रविव्रत, कुसुमांजलि, निर्झरपंचमी आदि नये नये व्रत, संकल्प, विधि, उद्यापन, जिनपूजा, दान तथा केवल ऐहिक फल तथा स्वर्गप्राप्ति का वर्णन है ।[५०]

व्रतकथा के बाद १६वी शताब्दी से लेकर १८वी शताब्दी तक व्रतकथाओं के संग्रहों की मानों बाढ सी आ गयी । जैन परम्परा में व्रतों का प्रचलन इस समय में बहुत ही बढता चला होगा । व्रतकथासंग्रहों की रचना ज्यादातर संस्कृत भाषा में ही हुई है । डॉ. वेलणकर लिखित 'जिनरत्नकोष' में बहुत सारे व्रतकथासंग्रहो का निर्देश है । लेकिन वे इस शोधलेख के लिए

मुझे उपलब्ध नहीं हुए ।

इन चारों अवस्थाओं के निरीक्षण से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि –

- साधुव्रत तथा श्रावकव्रत आगमकाल से लेकर आजतक प्रचलन में है ।
- आगमोक्त तप प्रथम विधि के तौरपर आये और बाद में दुष्करता के कारण सुलभ व्रतों में परिवर्तित हुए ।
- आरम्भ में व्रत तथा तप का उद्दिष्ट कर्मनिर्जरामात्र था । धीरे-धीरे उसमें ऐहिक और पारलौकिकता आयी और अन्त में मोक्षफलप्राप्ति छोडकर स्वर्गतक सीमित हुई । जैन परम्परा के अनुसार इस पंचम काल में जब कोई जीव इस भरतक्षेत्र में मोक्षगामी होनेवाला नहीं है तब उनका स्वर्गप्राप्ति तक सीमित रहना ठीक ही लगता है ।
- व्रत विषयक श्वेताम्बरीय प्राकृत साहित्य में, दिगम्बरीय व्रतविषयक संस्कृत साहित्य की तुलना में 'व्रत' शब्द का आम प्रयोग करने का प्रचलन बाद में आया हुआ दिखायी देता है ।

## ( ६ ) जैन व्रतों के अवस्थान्तरों की कारणमीमांसा :

- हिन्दु व्रतों में कालानुसारी जो परिवर्तन आये उसके अनुसार जैन व्रतों में परिवर्तन आना बिलकुल स्वाभाविक था क्योंकि अल्पसंख्य जैन समाज बहुसंख्य हिन्दु समाज के सम्पर्क में हमेशा ही था । इस सामाजिक सहजीवन का असर जैन व्रतों में भी दिखायी देता है ।
- प्रवृत्तिप्रधान हिन्दुधर्म में पौराणिक व्रत प्रायः उत्सव स्वरूप और क्रियाकाण्डात्मक, विधिविधानों से भरे हुए थे । उनके प्रति आम जैन समाज का आकृष्ट होना स्वाभाविक था । जैन गृहस्थाचार में यद्यपि बारह व्रत शामिल थे तथापि वे निवृत्तिप्रधान और अमूर्त थे । इसी वजह से गृहस्थाचार से सम्बन्धित तप से निगडित तथा जैन तत्त्वज्ञान से सुसंगत इस प्रकार के नये विधिविधानात्मक व्रत जैन आचार्यों ने बनाये । जैसे कि 'सम्यक्त्व' के आरोपण की विधि

बन गयी ।[५१] 'अष्टकर्मतप' मूर्त क्रियाप्रधानरूप लेकर सामने आया[५२] तथा 'ज्ञानपंचमी', 'सुगन्धदशमी' आदि नये नये व्रत भी बनने लगे ।[५३]

- यद्यपि जैनधर्म प्रधानता से मोक्षलक्षी था तथापि गृहस्थों के लिए धन, आयुष्य, आरोग्य, समृद्धि आदि प्राप्त करानेवाले व्रतों की आवश्यकता जैन आचार्य महसूस करने लगे । इसलिए केवल पारलौकिक कल्याण के लिए ही नहीं किन्तु ऐहिक सुखों की कामना रखकर भी व्रतों की योजना होने लगी । ऐहिक फलकामनासहित क्रियाओं की या तप की 'निदानतप' शब्द से यद्यपि आगमों में निन्दा की है तथापि सोचविचार कर और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाकर धर्माचरण के प्रति सामान्यों का मन आकृष्ट करने के लिए व्रतों में परिवर्तन आ गये ।
- प्राचीन काल से ही जैनियों में कुलदेवता, कुलाचार, पूजन आदि के रूप में विविध कथाओं का प्रचलन था । बदलते काल के साथ उनमें से कुछ रीतिरिवाज व्रत स्वरूप में परिवर्तित हुए । आधुनिक काल में भी शुभप्रसंग में विनायकपूजन (गणेशपूजन), मंगळसात, घटस्थापना, शिळासप्तमी, कुलदेवताओं का पूजन आदि परम्पराओं का प्रचलन दिखायी देता है । इन कुलाचारों के ग्रान्थिक आधार सहज उपलब्ध नहीं है । तथापि पीढी दर पीढियों से इनका परिपालन होता चला आया है ।
- व्रतों के प्रत्यक्ष आचरण के समय तप, उपवास, मौन, स्वाध्याय, जप आदि की प्रधानता होती है जो जैन सिद्धान्तो से मिलीजुली है । व्रत के पारणा तथा उद्यापन में उत्सव की प्रधानता रहती है । स्वजाति तथा अन्यजातियों के लोगों को बुलाकर भोजन का प्रबन्ध, प्रभावना स्वरूप भेट वस्तुओं को आदान-प्रदान प्रमुखता से दिखायी देता है । ज्ञानपंचमी व्रत के समापन में वसुनन्दि कहते हैं कि-

सहिरण्ण पंचकलसे पुरओ वित्थारिऊण वत्थमुहे ।<br>
पक्कण्णं बहुभेयं फलाणि विविहाणि तह चेव ॥५४॥

दाणं च जहाजोग्गं दाऊण चउव्विहस्स संघस्स ।
उज्जवणविही एवं कायव्वा देसविरएण ॥५५॥

उदयचन्द्रविरचित सुगन्धदशमीकथा के उद्यापनविधि में निम्नलिखित वर्णन पाया जाता है । जैसे कि– 'जिनमन्दिर को पुष्पों से सजाना, चंदोवा तानना, ध्वजाएँ फहराना, औषधिदान देना, मुनियों को पवित्र आहार देना, दस श्रावकों को भेटवस्तु तथा खीर–घृत कटोरिया आदि देना, इस प्रकार की विधि करना चाहिए । इससे पुण्य उत्पन्न होता है ।'[५६]

**उपसंहार :**

हिन्दु और जैन व्रतों का क्रियाप्रतिक्रियात्मक लेखाजोखा हमने अभीतक देखा । अब उसके उपसंहार तक पहुँचते हैं । दोनों परम्पराओ ने एक–दूसरे को प्रभावित किया । ज्यादातर हिन्दु प्रभाव से जैन व्रतों में परिवर्तन आये। लेकिन इस सभी प्रक्रिया में जैनों ने परिवर्तन के साथ–साथ अपनी अलग पहचान भी रखने का जरूर प्रयास किया । उसपर आधारित साम्य–भेदात्मक निरीक्षण उपसंहार में प्रस्तुत कर रहे हैं ।[५७]

- हिन्दु तथा जैन दोनों परम्पराओं के प्राचीन मूल ग्रन्थो में विधि–विधान रूप व्रतों का वर्णन नहीं पाया जाता । हिन्दु परम्परा में प्रारम्भ में यज्ञों की प्रधानता थी । उसके आधार से व्रत निष्पन्न तथा परिवर्धित हुए । जैन आगमों में महाव्रत, अणुव्रत तथा तप प्रधान थे । विधि–विधानात्मक व्रतों का आरम्भ इन्हीं के आधार से हुआ ।
- हिन्दुओ के व्रत परिमित काल के लिए हैं । महाव्रत–अणुव्रत आजन्म परिपालन के लिए तथा उसी के आधार से आध्यात्मिक उन्नति के लिए बनाये गए हैं । बाद में जैन परम्परा में प्रारम्भित रविव्रत, निर्दोषसप्तमीकथाव्रत, रोहिणीव्रत इ. परिमित काल के लिए अपेक्षित है ।
- हिन्दु परम्परा में व्रत सम्बन्धित उपवास चार प्रकार से होता है –

अनशन, अयाचित, नक्त(प्रदोष) तथा एकभुक्त। जैन व्रतों में भी उपवास ही केन्द्रस्थानी है तथा उनके उपवास के भी एकाशन, आयम्बिल, वियगत्याग, बेला, तेला आदि विविध प्रकार हैं।

- ब्रह्मचर्यपालन, मधु-मद्य-मांस का त्याग इन बातों की दोनों परम्परा में व्रत पालन के दिन समानता दिखायी देती है। व्रत के उद्यापन के दिन हिन्दु लोग प्रायः ब्राह्मण, पुरोहित को दान देते हैं तथा जैन लोग संघ को दान देते हैं।
- दोनों परम्पराओं में व्रत ज्यादातर स्त्रियों द्वारा आचरित है तथा चातुर्मास काल में व्रतों की विशेष आराधना की जाती है।
- हिन्दु परम्परा में चैत्र से लेकर फाल्गुन तक विविध प्रकार के त्यौहार हैं। वे उत्सव के तौरपर और व्रतरूप में परिवर्तित करके मनाये जाते हैं। व्रतों की इतनी विपुलता तथा उत्सवी स्वरूप जैनों में नहीं पाया जाता।
- व्रतों की संख्या जैसे जैसे बढने लगी वैसे वैसे दोनो परम्पराओं में व्रतकथाओं के संग्रह बनने लगे। कथाएँ भी रची गयी। वे अपनी-अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं से मिलती-जुलती थी। पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म का जिक्र दोनों में भी पाया जाता है। चान्द्रायण, कोकिला, सौभाग्य, आरोग्य, अम्बिका, ऋषिपंचमी, अक्षयतृतीया, मोक्षदा (मौन) एकादशी आदि हिन्दु व्रतों से नामसाम्य रखनेवाले जैनव्रत पाये जाते हैं। तथापि इन व्रतों का अन्तर्गत स्वरूप बिलकुल ही भिन्न है।
- हिन्दु व्रत, 'धनधान्यसुखसमृद्ध्यर्थम् अमुकव्रतम् अहं करिष्ये', इस प्रकार से संकल्पपूर्वक किये जाते हैं। जैनव्रत संकल्प के उच्चारणपूर्वक नहीं किये जाते। पूर्वोल्लिखित जैनव्रतों की तीसरी अवस्था में व्रत के फल का जिक्र होने लगा। उसमें एक प्रकार से संकल्प भी निहित है तथापि प्रारम्भ में संकल्प करना प्रायः निदानात्मक और निषिद्ध ही माना गया है।
- हिन्दु व्रतों में अनिवार्य रूप से स्नान की आवश्यकता बतायी गयी

है। जैनों में यद्यपि मन्दिरमार्गियों में पूजा के पहले स्नान का प्रचलन है तथापि स्नान और बाह्यशुद्धि को अनन्यसाधारण महत्त्व नहीं दिया है। भावशुद्धि की प्रधानता बतायी गयी है क्योंकि सभी जैनआचार का केन्द्र ही भावशुद्धि है।

- हिन्दुओं में देवताप्रीत्यर्थ किये गये व्रतों में विशिष्ट धान्य तथा शाकभाजी से युक्त भोजन नैवेद्य स्वरूप में चढाया जाता है। जैन व्रतों में यह पद्धति प्रचलित नहीं है तथा प्रसाद भी बाटने की प्रथा प्रायः नहीं है।
- दोनों परम्पराओं में यद्यपि प्रतिमाओं का पूजन किया जाता है तथापि गणपति, गौरी, हरतालिका, राम-रावण, दुर्गा आदि प्रासंगिक प्रतिमाओं का निर्माण, विसर्जन तथा दहन हिन्दु परम्परा में बहुत ही प्रचलित है। जैन परम्परा में प्रासङ्गिक प्रतिमानिर्माण तथा विसर्जन को बिलकुल ही स्थान नहीं है क्योंकि जैन दृष्टि से यह सब विराधना, आशातना, प्रमादचर्या तथा अनर्थदण्डरूप है।
- अपत्यप्राप्ति के लिए तथा पति के दीर्घायुष्य के लिए व्रत रखना, प्रायः सभी व्रतों में सुवासिनी स्त्री को महत्त्व देना-ये सब हिन्दुव्रतों की विशेषताएँ हैं। जैनव्रतों में इन्हें खास तौरपर परिलक्षित नहीं किया जाता क्योंकि अपत्य का होना या न होना, पति की आयुर्मर्यादा आदि सब बातें कर्माधीन हैं। व्रत रखकर आयुष्य बढाने में जैन सिद्धान्त विश्वास नहीं रखता।
- हिन्दु स्मृतिग्रन्थों में सभी 'प्रायश्चित्तों' को 'व्रत' कहा है। जैन परम्परा में 'प्रायश्चित्त' याने 'छेद' को 'तप' कहा है। प्रायश्चित्तों को केन्द्रस्थान में रखकर दोनों परम्परा में अलग से ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।
- हिन्दुओं में कुछ व्रतों के लिए पुरोहित की आवश्यकता बतायी है। विविध प्रकार के होम किये जाते हैं। कुछ व्रत दूसरों द्वारा करवाने का भी जिक्र किया गया है। जैन व्रतों में व्रत मुनि की आज्ञा से करते हैं। होम का प्रावधान बिलकुल ही नहीं है और व्रत खुद

ही करना पडता है, दूसरों द्वारा नहीं करवाया जा सकता ।

- हिन्दुओं में व्रत वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों पाये जाते हैं । जैनों में वैयक्तिक व्रतों की प्रधानता है लेकिन उपधानतप, पौषधोपवास आदि बहुत ही कम व्रत सामूहिक रूप में करने की प्रथा है ।
- ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद न रखके सभी वर्णों के तथा जाति के लोगों को केन्द्रस्थान में रखकर हिन्दु व्रत सामान्यतः बनाये गये हैं। तथापि कुछ ग्रन्थों में पिछले दरवाजे से जातिभेद प्रविष्ट हुआ दिखायी देता है । कहा है कि विशिष्ट व्रत में ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दिन का उपवास रखे और उसी व्रत में वैश्य तथा शूद्र लगातार दो दिनों का उपवास रखे । जैन परम्परा में प्रायः इसतरह के भेदभाव दिखायी नहीं देते तथापि अपवाद स्वरूप उदाहरण पाये जाते हैं। इस भेदभाव का आधार आर्थिक सामर्थ्य है । वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि ज्ञानपंचमीव्रत का उद्यापन जो व्यक्ति उक्त प्रकार से करने में असमर्थ हो वह व्रत का कालावधि दुगना करें ।
- हिन्दु धर्मशास्त्रों में त्रैवर्णिकों के लिए व्रतबन्धसंस्कार का प्रावधान था । इस संस्कार के अनन्तर उनकी शिक्षा का आरम्भ होता था। जैन परम्परा में श्रावकव्रत ग्रहण करने के उल्लेख आगमों में मिलते हैं लेकिन वहाँ विधिपूर्वक व्रतग्रहण का विधान लिखित रूप में नहीं दिखाई देता । चौदहवी सदी के जिनप्रभसूरि को इसकी आवश्यकता महसूस हुई । परिणामवश उन्होंने सम्यक्त्व-आरोपण-विधि तथा साधु एवं श्रावकव्रतों के ग्रहण की भी विधि बनायी। लेकिन श्रावकदीक्षा की विधि का प्रचलन जैन समाज में नहीं हो सका ।

**निष्कर्ष :**

हिन्दु और जैन व्रतसंकल्पनाओं के आरम्भबिन्दु अलग-अलग हैं । अहिंसा, सत्य आदि उच्च मानवीय मूल्यों को जैनों ने साधु तथा श्रावकाचार में यावज्जीवन स्थान दिया । उन्हें ही आध्यात्मिक उन्नति का आधार माना । वैदिक तथा वेदोत्तर काल में कर्तव्यस्वरूप वर्णाश्रमधर्म दैनन्दिन तथा यावज्जीवन

आचार में पुष्पित-फलित नहीं हुआ । लिङ्गभेद, जातिभेद, पुरोहितप्रधानता आदि कारणों से तथा जैन और बौद्धों द्वारा किये गए तीव्र वैचारिक संघर्षों से सर्वसमावेशक, विधिविधानात्मक पत्र-पुष्प-हिरण्य-सुवर्ण-प्रतिमापूजन-विसर्जन, नैवेद्य, प्रसाद, उद्यापन, दान आदि अतीव आकर्षक रूप में नया सामाजिक पहलू लेकर हिन्दु पुराणों द्वारा व्रतों का प्रचलन हुआ । जैन आचार्यों को उपवास, तप, निवृत्तिप्रधान, नीरस धर्मव्यवहार में परिवर्तन लाने की अत्यधिक आवश्यकता महसूस हुई । इहलौकिक सुखसमृद्धि और स्वर्गप्राप्ति को नजरअंदाज न करते हुए ग्यारहवी सदी से लेकर पंद्रहवी सदी तक जैनों में भी विधिविधानात्मक व्रतों का खूब प्रचार हुआ । श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय मन्दिर और प्रतिमा निर्माण, पूजा-प्रतिष्ठा, विधिविधान, यन्त्र-मन्त्र में निमग्न हुए । सोलहवी सदी में गुजरात में लौंकाशाह नामक धार्मिक श्रावक ने इन सब नये कर्मकाण्डात्मक धर्म के विरुद्ध जैन-जागृति की तथा 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय का आरम्भ किया । मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठा तथा नानाविध विधिविधानात्मक व्रतों को हटाकर मूलगामी, सिद्धान्तप्रधान जैन धर्म की ओर कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों का झुकाव बढा ।

प्रायः इसी समय हिन्दुओं में पौराणिक धर्माचार से ऊबकर एक स्वयम्भू अमूर्त ईश्वर को प्रधानता देनेवाले शीखसम्प्रदाय का उदय और प्रसार होने लगा । राम, कृष्ण, विठ्ठल आदि एक मूर्त ईश्वर का नामसंकीर्तन तथा भक्ति इनपर आधारित सम्प्रदाय उद्भूत हुए ।

भारतीय संस्कृति के बहुपेडी आयामों का क्रियाप्रतिक्रियात्मक सिलसिला आरम्भ से लेकर आजतक जारी है । 'व्रतसंकल्पना' को केन्द्रस्थान में रखकर अगर हिन्दु और जैन धार्मिक आचारों का परीक्षण करें तो उपर्युक्त लेखाजोखा सामने उभरकर आता है ।

## सन्दर्भ

१. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १५९-१६१
२. अथर्ववेद ११.७.६; शतपथ ब्राह्मण १०.१.२.४; महाभारत १.६४.४२; २.२०.४; ३.१०.३; १२.२४.१७; वामणपुराण ६२.३८; स्कन्दपुराण १.३.११.६६
३. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६२

४. मनुस्मृति अध्याय ११ प्रायश्चित्तविधि पृ. ३८८ से ५१७
याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्तप्रकरण (५) पृ. ३८८ से ५१७
५. महाभारत २.११.१८ (१२७*); ५.४३.१२; ६.१०३.७८; १२.३६.१९
६. योग-दर्शन २.३०,३१
७. आचारांग चूलिका १५.४२, ४३, ४९, ५०; सूत्रकृतांग १.२.५७; स्थानांग ३.५२४; ५.१; उत्तराध्ययन १९.१०, २८, ८९; २०.३९; २१.१२; आवश्यक ४.३., ८, ९; ५.२
८. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६७, १७१
९. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६६
१०. उत्तराध्ययन १२.१७; १४.१२; २५.३०; धम्मपद २६.२३; सुत्तनिपात चूळवग्ग, ७ वा ब्राह्मणधम्मिकसुत्त
११. महाभारत शांतिपर्व ३४६.१०, ११
१२. ऋषिभाषित-नारद नामक प्रथम अध्ययन
१३. मनुस्मृति ५.१५५; ८.१८; ९.३३४, ३३५; १०.१२१ से १२६; ११.१३
१४. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६७, १६९
१५. उत्तराध्ययन अध्ययन १२, अध्ययन १४, अध्ययन २५; धम्मपद अध्ययन २६
१६. उपासकदशा १.२३; औपपातिक पृ. ३५७, ३५८, ४७४-४८३; वसुनन्दिश्रावकाचार गा. २०७ से २२०
१७. धम्मपद १८.१२; सुत्तनिपात चूळवग्ग, १४वा धम्मिकसुत्त पृ. ९५ से १०१
१८. धर्मशास्त्राचा इतिहास पृ. १६९
१९. धर्मशास्त्राचा इतिहास पृ. १६०
२०. उत्तराध्ययन १९.२५-३१; तत्त्वार्थ ७.१
२१. तत्त्वार्थ ७.१
२२. तत्त्वार्थ ७.२; आचारांग चूलिका १५.४२,४३; सूत्रकृतांग १.२.५७; स्थानांग ५.१.; उत्तराध्ययन २०.३९; २१.१२; आवश्यक ४.८ से १२
२३. आचारांग चूलिका, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, छेदसूत्र, मूलाचार, भगवतीआराधना, उपासकदशा, श्रावकप्रज्ञप्ति, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, पुरूषार्थसिद्ध्युपाय
२४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. १८,१९
२५. अन्तगड वर्ग ८; औपपातिक पृ. १६३-१७२
२६. स्थानांग ३.३८५; समवायांग ३.३; भगवती १४.७१; ज्ञाताधर्मकथा १.१६.११३;

१.१६.३२७(१).

२७. आचारांगचूलिका, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, छेदसूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना, उपासकदशा, श्रावकप्रज्ञप्ति, वसुनन्दिश्रावकाचार

२८. ज्ञाताधर्मकथा १.१.९६; १.२.१२

२९. वरांगचरित ३०.५२

३०. वरांगचरित ११.४०; १३.३९; १५.१२१; २४.१०६; ३०.४४

३१. वरांगचरित २३.७७ से ८२

३२. वरांगचरित २३.७७, ८३

३३. हरिवंशपुराण पृ. ४२३ से ४४३

३४. आदिपुराण पर्व ७

३५. उत्तरपुराण पर्व ६७.३५८ से ३८४

३६. उत्तरपुराण ६७.३७३

३७. ज्ञानपंचमीकथा १.३६४

३८. ज्ञानपंचमीकथा १.३३९ से ३७८; २.१२५; ४.१२५; ७.४२, ४३, ९३ से ९७

३९. ज्ञानपंचमीकथा १.४९४ से ४९६; २.५० से ५७

४०. सुगन्धदशमीकथा प्रथम सन्धी

४१. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५३ से ३८१

४२. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५९

४३. विधिमार्गप्रपा

४४. विधिमार्गप्रपा पृ. २५ से २९

४५. विधिमार्गप्रपा पृ. २५ पंक्ति १७, १९

४६. विधिमार्गप्रपा पृ. २७ पंक्ति १

४७. विधिमार्गप्रपा पृ. २५ पंक्ति ३, २९, ३१, ३२, पृ. २६ पंक्ति २, ४

४८. विधिमार्गप्रपा पृ. २९ पंक्ति २५, २६

४९. विधिमार्गप्रपा, संक्षिप्त जीवन चरित्र पृ. १ से २४

५०. व्रतकथा

५१. विधिमार्गप्रपा पृ. १ से ३

५२. विधिमार्गप्रपा पृ. २६ पंक्ति १ से ३

५३. ज्ञानपंचमीकथा; सुगन्धदशमीकथा

५४. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५७

५५. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५८

५६. सुगन्धदशमीकथा १.१२

५७. हिन्दु व्रतों के वर्णनात्मक स्वरूप के लिए 'व्रतशिरोमणी' किताब का आधार लिया है ।

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि

१. अन्तकृद्दशा (अन्तगडदसा) : अनुवादक-घासीलालजी म., जैन प्रिन्टिंग प्रेस, १९८०

२. आचारांग चूलिका : अंगसुत्ताणि १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१

३. आदिपुराण : अनुवादक-घासीलालजी म. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५९

४. आवश्यक (आवस्सय) : मुनि पुण्यविजय, महावीर विद्यालय, मुम्बई, १९७७

५. औपपातिक (उववाई) : अनुवादक-घासीलालजी म. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९५९

६. उत्तरपुराण : गुणभद्राचार्य, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४

७. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण) : जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, १९९२

८. उपासकदशा (उपासकदसा) : (मिताक्षरासारासह), भाषान्तर-विष्णुशास्त्री बापट, दामोदर त्र्यंबक जोशी, पुणे

९. ऋषिभाषित (इसिभासिय) : सं. विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८

१०. ज्ञाताधर्मकथा (नायाधम्मकहा) : अंगसुत्ताणि ३, आ. तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१

११. ज्ञानपंचमीकथा (णाणपंचमीकहा) : महेश्वरसूरिकृत, सिंघी जैनशास्त्र विद्यापीठ, मुम्बई, १४९

१२. तत्त्वार्थ : विवेक-पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००१

१३. दशवैकालिक (दसवेयालिय) : अनुवादक-घेवचंदजी बाँटिया, जैन प्रिन्टींग प्रेस, सैलाना, १९८३

१४. देवीभागवत : खण्ड १, सं. आ. श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६८

१५. धर्मशास्त्राचा इतिहास : डॉ. काणे, महाराष्ट्र राज्य साहित्य व संस्कृति मण्डल, १९६७

१६. धम्मपद : अनुवादक-डॉ. भ.ग.बापट, धम्म बुक्स प्रकाशन, २००१

१७. नारदपुराण : (खण्ड १, २) सं.पं.श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७१

१८. पातंजलयोगः पतंजलिकृत,गीताप्रेस, गोरखपुर
१९. भगवती (भगवई) : अंगसुत्ताणि २, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
२०. भविष्यपुराण : (खण्ड २) सं. पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६९
२१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२
२२. मनुस्मृति : भाषान्तर–विष्णुशास्त्री बापट, श्री गजानन बुक डेपो, पुणे
२३. महाभारत : सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, १९७९
२४. याज्ञवल्क्यस्मृति : (मिताक्षरासारासह), भाषान्तर–विष्णुशास्त्री बापट, दामोदर त्र्यंबक जोशी, पुणे
२५. वयकहा : ब्रह्मसाधारण, सं. भागचन्द्र जैन भास्कर, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, १९८५
२६. वरांगचरित : जटासिंहनन्दिविरचित, सं. ए.एन्.उपाध्ये, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थालय समिति, मुम्बई, १९३८
२७. वसुनन्दिश्रावकाचार : वसुनन्दिकृत, सं. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२
२८. विधिमार्गप्रपा : जिनप्रभसूरिकृत, सं. जिनविजय, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९४१
२९. व्रतशिरोमणी : श्रीनिवास देशिंगकर, प्र. शालिनीबाई देशिंगकर, मिरज, १९७७
३०. सुगन्धदशमीकहा (सुगन्धदसमीकहा) : उदयचन्द्रकृत, सं. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६६
३१. सुत्तनिपात : सं. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, १९९५
३२. सूत्रकृतांग (सूयगड) : अंगसुत्ताणि १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
३३. स्थानांग (ठाण) : अंगसुत्ताणि १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
३४. हरिवंशपुराण : जिनसेनकृत, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४
३५. हरिवंशपुराण : (खण्ड १), सं.पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६८

C/o. **जैन चेअर**
**पूणे विश्वविद्यालय, पूणे ( महाराष्ट्र )**